

विंश पाठ

सामवेद (आरण्य गान ८९) : सेतुसाम

२२ हाउ ॥ ३ ॥ ^{१२२} सेतू स्तर ॥ ३ ॥ ^{२१} दुस्त ॥ रान् ॥ ३ ॥

^{१२२} दानेनादानम् ॥ ३ ॥ हाउ ॥ ३ ॥ ^२ अहमस्मिप्रथमजाऋता २३

^{२१११} स्या ३४५ ॥ ^{२२} हाउ ॥ ३ ॥ ^{१२२} सेतू स्तर ॥ ३ ॥ ^{२१} दुस्त ॥ रान्

॥ ३ ॥ ^{१२२} अक्रोधेन क्रोधं ॥ २ ॥ ^{१२२} अक्रोधेन क्रोधं ॥ २ ॥ हाउ ॥ ३ ॥

^{२२} पूर्वं देवभ्यो ^२ अमृतस्यना २३ ^{२१११} मा ३४५ ॥ हाउ ॥ ३ ॥ ^{१२२} सेतू

^२ स्तर ३ ^{२१} दुस्त ॥ रान् ॥ ३ ॥ ^{२११२} श्रद्धयाश्रद्धा ॥ ३ ॥ ^{२२} हाउ ॥ ३ ॥

^{२२} योमाददातिस ^२ इदेवमा २३ ^{२१११} वा ३४५ त् ॥

^{२२} हाउ ॥ ३ ॥ ^{१२२} सेतू स्तर ॥ ३ ॥ ^{२१} दुस्त ॥ रान् ॥ ३ ॥

^{२१२२} सत्यनानुतं ॥ ३ ॥ हाउ ॥ ३ ॥ ^२ अहमन्नमन्नमदंतमा २३ ^{११११} ची ३४५ ॥

^२ हाउ ३ वा ॥ ^{२२२} एषा गतिः ॥ ३ ॥ ^{२२१२१} एतदमृतं ॥ ३ ॥

^{१-३} स्वर्गच्छ ॥ ३ ॥ ^{१२} ज्यातिगच्छ ॥ ३ ॥ ^{१२२} सेतू ^{२२} स्तीत्वाचतुरा २३४५ : ॥

यह सामवेद का अंश है जो सेतुसाम नाम से प्रसिद्ध है । सामवेद के अनेक अंश, उदाहरणतः प्रस्तुत अंश में "हाउ", केवल सङ्गीत की दृष्टि से रहते हैं, उनका कोई अर्थ नहीं होता । जो साम

के गायन का अभ्यास करते हैं उन्हें ऐसे अंशों की उपयोगिता मालूम होती है । इन्हें स्तोभ कहा जाता है । इसी प्रकार मोटे अक्षरों के ऊपर लिखे हुए छोटे अक्षर तथा संख्या के अङ्क गायन के समय स्वर का बोध कराने के लिए हैं । उनका कोई अर्थ नहीं होता ।

एक और विशेषता यह है कि सामवेद में एक ही ऋचा के चार पदों को कभी-कभी अलग-अलग पढ़ा दिया जाता है और उन पादों के बीच में कुछ दूसरा पाठ दे दिया जाता है । उदाहरणतः प्रस्तुत सेतुसाम में पूरी ऋचा इस प्रकार है—

३१२ ३ २३२ ३
अहमस्मि प्रथमजा ऋतस्य

१२ ३१ २ ३१२ ३१२
पूर्वन् देवैभ्यो अमृतस्य नाम ।

२ ३१२ ३ २३ ३ १ २ ३
यो मा ददाति स इदेवामावत्

२३ ३१ २३१२
अहमन्नमन्नमदन्तमग्नि ॥

ऊपर सेतुसाम गायन में हम देखेंगे कि इस ऋचा के चारों पाद न केवल अलग-अलग कर दिये गये हैं, बल्कि उनके बीच में कुछ और पाठ भी डाल दिये गये हैं । कारण यह है कि सामवेद में गायन ही मुख्य है जिस प्रकार आधुनिक काल के शास्त्रीय रागों में एक ही पद को अनेक बार दोहराते हैं वैसे ही सामवेद में भी होता है । इन सब बातों का सम्बन्ध सङ्गीत की गायन विधि से है वह केवल पुस्तक पढ़कर नहीं समझी जा सकती । उसे किसी साम गान करने वाले गुरु से ही सीखना पड़ता है ।

इन सब गायन सम्बन्धी विशेषताओं को जान लेने के बाद यदि हम उपर्युक्त सेतुसाम का अर्थ जानना चाहें तो वह इस प्रकार होगा—

दुस्तर खाइयों को पार करो (ये खाइयाँ चार हैं) दान से लोभ को (जीतो), अक्रोध से क्रोध को, (जीतो) श्रद्धा से अश्रद्धा को (जीतो), सत्य से झूठ को (जीतो) । यही एक मार्ग है । यही अमृत तत्व है । स्वर्ग को प्राप्त करो । ज्योति को प्राप्त करो । चार खाइयों को पार करो । इस आदेश के बीच-बीच में उस ऋचा के चार पाद दिये गये हैं जिसका हमने ऊपर उल्लेख किया है । इस ऋचा में साधक कहता है—

मैं ऋत से सबसे पहले उत्पन्न होने वाला हूँ । मैं देवों से भी पहले था, मेरा नाम अमृत है । जो मुझे देता है, वही मेरी रक्षा करता है । मैं अन्न हूँ और अन्न के खाने वाले को भी खाता हूँ । इस ऋचा के अर्थ को समझने के लिए तीन तत्त्वों को समझना होगा १. ऋत २. देव ३. अन्न-अन्नाद । केन्द्र रहित को ऋत कहते हैं । केन्द्र सहित को सत्य कहते हैं । असीम परात्पर ऋत है क्योंकि उसका

कोई केन्द्र नहीं है। ससीम पुरुष सत्य है क्योंकि उसका केन्द्र मन है। इस परात्पर ऋत से ही सत्य पुरुष उत्पन्न होता है, जिस पुरुष के हम सब भाग हैं। इसीलिए ईशोपनिषद् में यह कहा है—जो पुरुष है वह मैं ही हूँ—“यो असावसौ पुरुषः सोऽहमस्मि”। अतः अपने आप को ऋत से प्रथम उत्पन्न होने वाला बतलाना ठीक ही है। देव भी प्राण हैं, किन्तु सृष्टि के प्रारम्भ में देव प्राण नहीं थे। सृष्टि के प्रारम्भ में सुषुप्त प्राण थे, जैसा कि नासदीय सूक्त में कहा गया है—“आनीदवातम्” प्रथम प्राण ऋषि है, द्वितीय प्राण पितर है देव तृतीय प्राण है—“ऋषिभ्यो पितरो जाता, पितृभ्यो देवदानवाः” साधक का अपने आप को देवताओं से पूर्व बताना उचित ही है, जीवात्मा सृष्टि से पूर्व भी है, किन्तु देवता सृष्टि के बाद बने हैं। वस्तुतः आत्मा अमृत है।

ऋत और देव के इस प्रसङ्ग को समझ लेने के बाद अन्न, अन्नाद का अर्थ समझ लेना चाहिये। अन्नाद का अर्थ है भोक्ता, अन्न का अर्थ भोग्य। जो एक का भोक्ता है वह दूसरे का भोग्य है। एक स्थूल उदाहरण से समझें तो हिरण घास का भोक्ता है, किन्तु सिंह का भोग्य है। दूसरे शब्दों में वह घास का अन्नाद है और सिंह का अन्न है। संसार में सबकी यही स्थिति है। अन्नाद को अग्नि कहा जाता है क्योंकि अन्न को खाने का काम वस्तुतः अग्नि ही करती है। जो कुछ भी खाया जाता है वह सोम है इसलिए सोम को अन्न कहा जाता है। अग्नि का कार्य है विकास, सोम का कार्य है सङ्कोच। विकास अपनी चरम सीमा पर पहुँच कर सङ्कोच में परिणत हो जाता है। सङ्कोच अपनी चरम सीमा पर पहुँच कर विकास में परिणत हो जाता है। उस प्रकार अग्नि सोम में और सोम अग्नि में परिणत हो रहा है। इसीलिए सोम अग्नि को कहता है कि मैं तुम्हारा हूँ और मित्रता में तुमसे छोटा हूँ।

अग्निर्जागार तमयं सोम आह -

तवाहमस्मि सख्ये न्योकाः ।

सोम अपने आप को इसीलिए छोटा बताता है कि वह भोग्य है और भोग्य सदा भोक्ता से छोटा होता है। यही बात नासदीय सूक्त में भी कही गयी है कि स्वधा अर्थात् अन्न छोटा है प्रयति अर्थात् भोक्ता बड़ा है—“स्वधाऽवस्तात् प्रयतिः परस्तात्” सेतुसाम की ऋचा का अर्थ जान लेने के बाद यदि हम उन चार आदेशों की ओर ध्यान दें जो इस सेतु साम में दिये गये हैं तो यह ज्ञात होगा कि ये चारों आदेश सार्वभौम हैं। सभी धर्मों में लोभ को दान से, क्रोध को प्रेम से, सन्देह को श्रद्धा से तथा झूठ को सत्य से जीतने की बात कही गयी है। भारत वर्ष में उत्पन्न होने वाले दो धर्म, बौद्ध और जैन, अवैदिक माने जाते हैं किन्तु हम देखेंगे कि इस सेतुसाम में जिस अहिंसा, सत्य और अपरिग्रह की बात की गयी है वही बौद्ध और जैन धर्म की शिक्षाओं के भी मूलाधार है। अपनी बात के समर्थन में हम सेतुसाम के चार आदेशों के सम्बन्ध में बौद्ध और जैन ग्रन्थों से भी कुछ उद्धरण नीचे दे रहे हैं—

(१) दान से लोभ को जीतें—

बौद्ध सन्दर्भ -

सक्कच्चं दानं देथ, सहत्था दानं देथ,
चितीकतं दानं देथ, अनपविद्धं दानं देथ—दीघनिकाय

अर्थ : सत्कारपूर्वक दान दो, अपने हाथ से दान दो, मन से दान दो, ठीक तरह से दोष रहित दान दो ।

ते मतेसु न मीयन्ति, पन्थानं व सहब्बजं ।

अप्पस्मिं ये पवेच्छन्ति, एस धम्मो सनन्तनो ॥—संयुक्त निकाय

अर्थ : वे मरने पर भी नहीं मरते, जो एक पथ से चलते हुए सहयात्रियों की तरह थोड़ी से थोड़ी चीज को भी आपस में बाँट कर खाते हैं । यह पारस्परिक सहयोग ही सनातन धर्म है ।

जैन सन्दर्भ -

परिग्गहनिविट्ठाणं, वेरं तेसि पवड्डई ।—सूत्रकृतांग

अर्थ : जो परिग्रह (संग्रहवृत्ति) में व्यस्त हैं, वे संसार में अपने प्रति वैर ही बढ़ाते हैं ।

इच्छालोभिते मुत्तिमग्गस्य पलिमंथू—स्थानांग

अर्थ : लोभ मुक्ति-मार्ग का बाधक है ।

(२) अक्रोध से क्रोध को जीतें

बौद्ध सन्दर्भ -

न हि वेरेण वेराणि सम्मन्तीध कदाचनं

अवेरेण च सम्मन्ती एस धम्मो सनन्तनो—धम्मपद

अर्थ : वैर से वैर कभी भी शान्त नहीं होता, अवैर से ही वैर शान्त होता है—यह शाश्वत नियम है ।

यो उप्पतितं विनेति क्रोधं

विसटं सप्तविसंऽव ओसधेहि

सो भिक्खु जहाति ओर पारं

उरगो जिण्णमिव तचं पुराणं—सुत्तनिपात

अर्थ : जो बढ़ते हुए क्रोध को इस प्रकार शान्त कर देता है जिस प्रकार देह में फैलते हुए सर्प-विष को औषधि शान्त कर देती है वह संयमी इस लोक और परलोक से उसी प्रकार छूट जाता है अर्थात् मुक्त हो जाता है जिस प्रकार पुरानी केंचुली से साँप ।

जैन सन्दर्भ -

अप्याणं पि न कोवए—उत्तराध्ययन

अर्थ : अपने आप पर भी कभी क्रोध न करो ।

धम्ममहिंसासमं नत्थि—भक्तपरिज्ञा

अर्थ : अहिंसा के समान दूसरा धर्म नहीं है ।

(२) श्रद्धा से अश्रद्धा को जीतें ।

बौद्ध सन्दर्भ -

श्रद्धाबीजं, तपो वुड्ढि ।—सुत्तनिपात

अर्थ : श्रद्धा बीज है, तप वर्षा है ।

श्रद्धा बलं धम्मो—पटिसम्भ्रियमग्गो

अर्थ : धर्म का बल श्रद्धा है ।

जैन सन्दर्भ -

श्रद्धा खमं णे विणइतु रागं—उत्तराध्ययन

अर्थ : श्रद्धा हमें राग से छुड़ाने में समर्थ है ।

अदक्खु, व दक्खुवाहियं सदहसु ।—सूत्रकृतांग

अर्थ : न देखने वालों ! तुम उनके वचनों पर श्रद्धा करो, जिन्होंने देखा है ।

(४) सत्य से असत्य को जीतें ।

बौद्ध सन्दर्भ -

सच्चं हवे सादुतरं रसानं ।—सुत्तनिपात

अर्थ : सत्य का रस सबसे अधिक स्वादु है ।

संजानमानो न मुसा भण्येय । - विमानवत्सु

अर्थ: जानते हुए कभी झूठ न बोलें ।

जैन सन्दर्भ -

पुरिसा । सच्चमेव समभिजाणाहि । - आचारांग

अर्थ: हे मानव । तुम सत्य को ही सम्यक् रूप से जानो ।

भासियच्चं हियं सच्चं - उत्तराध्ययन

अर्थ: सत्य और हितकारी वचन बोलने चाहिये ।

इस प्रकार यद्यपि ईसाई तथा मुस्लिम धर्म में भी वेद के उपर्युक्त आदेशों का समर्थन खूब मिल जायेगा किन्तु ऐसे वचन देने पर भाष्य बहुत लम्बा हो जायेगा। इस देश में ही उत्पन्न होने वाले बौद्ध और जैन धर्मों के थोड़े से उदाहरण देने से यह बात स्पष्ट हो जाती है कि वेद का सन्देश सर्वसम्मत है ।

प्रश्न

१. सामवेद के पाठ की क्या विशेषता है ?
२. सेतुसाम में पठित ऋचा का क्या अर्थ है ?
३. अग्नि और सोम का क्या सम्बन्ध है ?
४. सेतुसाम में किन चार खाईयों का उल्लेख है ?
५. वेद का सन्देश सार्वभौम कैसे है ?

स्मरणीय उद्धरण

पाठ में उद्धृत बौद्ध तथा जैन ग्रन्थों के उद्धरण कण्ठस्थ करें ।

एकविंश पाठ

काल सूक्त (अथर्ववेद १९. ६.५३)

हम जिन पदार्थों पर विचार करते हैं सम्भवतः काल उनमें सबसे सूक्ष्म है क्योंकि काल को आँख, नाक, कान आदि किसी भी ज्ञानेन्द्रिय से नहीं जाना जा सकता । केवल मन ही काल को जानता है । यदि मन न हो तो भी विश्व के समस्त पदार्थों का अस्तित्व बना रहेगा, किन्तु मन की चेतना के बिना काल की सत्ता सन्दिग्ध ही है । इस दृष्टि से काल चेतना के सबसे अधिक निकट है । सामान्यतया हमें काल का बोध सूर्य से होता है । किन्तु यह बोध मन की सहायता के बिना नहीं हो सकता । अतः ज्ञानशक्तिसम्पन्न मन जब सूर्य से जुड़ता है तो काल का बोध होता है । हम प्रारम्भ में बता चुके हैं कि आत्मा के तीन घटक हैं—मन, प्राण और अन्न । साथ ही उपनिषदों में पाँच कोषों का वर्णन है—आनन्द, विज्ञान, मन, प्राण और अन्न । इन पाँचों के बीच मन है, और मन काल से जुड़ा है । स्पष्ट है कि सृष्टि के केन्द्र में काल है । दूसरी ओर सूर्य भी पञ्चपर्या विश्व के केन्द्र में है । उसके एक ओर चन्द्र और पृथिवी है, दूसरी ओर परमेष्ठी और स्वयम्भू है । इस प्रकार चाहे मन की दृष्टि से देखें चाहे सूर्य की दृष्टि से काल केन्द्रस्थ है । अथर्ववेद के उन्नीसवें-काण्ड के षष्ठ अनुवाक में तिरेपनवां और चौवनवां सूक्त काल से सम्बद्ध है । उसमें से यहां हम यहां केवल प्रथम सूक्त की सङ्क्षिप्त व्याख्या करेंगे । इस सूक्त में दस मन्त्र हैं । प्रथम मन्त्र इस प्रकार है—

कालो अश्वो वहति सप्तरश्मिः सहस्राक्षो अजरो भूरिरेताः ।

तमारोहन्ति क्वयो विपश्चितस्तस्य चक्रा भुवनानि विश्वा ॥

मन्त्र का अर्थ सरल है—काल एक अश्व है जिसकी सात रश्मियाँ हैं, हजार आँखें हैं, जो कभी वृद्ध नहीं होता और जो अत्यन्त शक्तिशाली है । विद्वान् मनीषी इस काल के अश्व पर सवार होते हैं । ये समस्त लोक उस काल अश्व के चक्र हैं ।

यहाँ काल को अश्व बताया गया है । अग्नि से आपः उत्पन्न हुआ । यह आपः ही अश्रु बना । यह अश्रु ही अश्व है । वैदिक शब्दों की ऐसी व्याख्या पर आश्चर्य नहीं करना चाहिये, क्योंकि वेद के शब्द प्रत्यक्ष अर्थ न देकर परोक्ष अर्थ देते हैं—

‘परोक्षकामा हि देवाः । अश्रु ह वै तमश्व इत्याचक्षते परोक्षम्’ । स्वयम्भू अग्नि रूप है । उससे जल रूप परमेष्ठी उत्पन्न हुआ । उस परमेष्ठी से ही काल प्रारम्भ होता है । अतः यहाँ काल को आपः अथवा अश्रु अथवा अश्व कहा गया है । उसकी सात रश्मियाँ बताई गई हैं । ऋग्वेद में सात दिशा, सात होता, सात आदित्य इत्यादि अनेक सात पदार्थों का वर्णन है । वहाँ वृषभ को भी सप्त रश्मि कहा गया है । वृषभ शिव का वाहन है । शिव का दूसरा नाम महाकाल है । इस नाते

काल का सम्बन्ध सप्त रश्मियों से माना जा सकता है । सप्ताह के सात दिन भी काल की सप्त रश्मियाँ हैं । सूर्य की किरणों के सात रंग भी काल की सप्त रश्मि कहला सकते हैं । पुरुष सूक्त में पुरुष को सहस्रशीर्ष वाला, सहस्राक्ष वाला और सहस्रपाद वाला बताया गया है । स्वयम्भू शीर्ष है, सूर्य अक्ष है, पृथिवी पाद है, क्योंकि काल का सम्बन्ध सूर्य से है । इसलिए काल को सहस्राक्ष कहना उचित ही है । शरीर का सम्बन्ध अर्थ से है, मन का सम्बन्ध काम से । बुद्धि का सम्बन्ध सूर्य से है । अर्थ और काम से आक्रान्त शरीर और मन जीर्ण होते हैं, किन्तु सूर्य से जुड़ी बुद्धि अजर है, इसलिए यहाँ काल को अजर कहा गया है । इसलिए यह भी कहा गया है कि जो बुद्धिमान् है वे काल के अश्व पर आरूढ़ रहते हैं । विश्व के समस्त पदार्थों में जितना परिवर्तन हो रहा है काल के कारण हो रहा है । अतः काल को अत्यन्त शक्तिशाली बताना उचित ही है । पहली पङ्क्ति में कहा गया है कि काल सबका वहन करता है । अभिप्राय यह है कि सामान्य मनुष्यों को तो काल वहन करता है, किन्तु प्रज्ञाशील काल पर सवार हो जाते हैं । स्पष्ट है कि सामान्य मनुष्य काल के प्रवाह में बहते रहते हैं, किन्तु बुद्धिमान् काल के वशीभूत नहीं होते, प्रत्युत काल ही उनके वश में होता है । क्योंकि काल विश्व के किसी भी पदार्थ को अपरिवर्तित नहीं छोड़ता इसलिए कहा गया कि मानों सारा विश्व ही काल का चक्र है ।

अभिप्राय यह है कि हम बुद्धि के द्वारा ही काल को जीत सकते हैं, मृत्यु पर विजय प्राप्त कर सकते हैं । क्योंकि बुद्धि का सम्बन्ध सूर्य से है, इसलिए यह कहा गया है कि जो कुछ सूर्य से ऊपर है वह मृत्यु से मुक्त है । जो सूर्य से नीचे है वही मृत्यु के चंगुल में है । काल को मृत्यु कहा जाता है, क्योंकि काल परिवर्तन का कारण है और जहाँ परिवर्तन है, वहाँ मृत्यु है । सूक्त का दूसरा मन्त्र इस प्रकार है—

सप्त चक्रान् वहति काल एष सप्तास्य नाभीरमृतं न्वक्षः ।

स इमा विश्वा भुवनान्यञ्जत् कालः स ईयते प्रथमो नु देवः ॥

मन्त्र का शब्दार्थ है—काल सात चक्रों का वहन कर रहा है । इसकी सात नाभियाँ हैं । इसके अक्ष में अमृत है । यह सम्पूर्ण विश्व को घुमा रहा है । यह प्रथम देव है जो सर्वत्र व्याप्त है ।

भूर्भुवः स्वः महः जनः तपः सत्यम्—ये सात लोक हैं जिन्हें काल-अश्व वहन करता है । सप्ताह के सात दिन भी सात चक्र हैं । इन चक्रों की जो नाभि है वह सूर्य है, वह अमृत है । काल की गति कुटिल कही जाती है । यह कुटिल गति ही संवत्सर है । कुटिल गति का नाम है सर्वत्सर । सर्वत्सर ही संवत्सर हो जाता है । पृथिवी सूर्य के चारों ओर अण्डाकार घूमती है । इस अण्डाकार भ्रमण का नाम ही सर्वत्सर है । सर्वत्सर ही संवत्सर है—सर्वत्सरो ह वै नामैतत्सम्बत्सरः । यह संवत्सर ही मृत्यु है, क्योंकि यही दिन रात के रूप में मनुष्यों की आयु क्षीण करता है—एष वै मृत्युर्यत्संवत्सरः । एष हि मर्त्यानामहोरात्राभ्यामायुः क्षिणोति ।

तृतीय मन्त्र

पूर्णः कुम्भोधि काल आहितस्तं वै पश्यामो बहुधा नु सन्तः ।

स इमा विश्वा भुवनानि प्रत्यङ् कालं तमाहुः परमे व्योमन् ।

उस काल के आधार पर ही पूर्ण कुम्भ प्रतिष्ठित है । यह पूर्णकुम्भ ही इन सम्पूर्ण लोकों का आत्मा है । उस काल को महर्षि परम व्योम कहते हैं ।

यदि हम किसी खुले स्थान पर चारों ओर फैली हुई पृथिवी को देखें तो गोलाकार आकाश क्षितिज को छूता हुआ दिखाई देगा । यह आकार ऐसा होता है जैसा कछुए का । इसे ही प्रजापति का कच्छपावतार कहा जाता है । इसी में यदि नीचे के भाग को एक कपाल और दूसरे भाग को ऊपर का कपाल मान लिया जाय तो वह कुम्भ बन जायेगा । यह कुम्भ देश है जो काल पर टिका है इस कुम्भ को बनाने वाला प्रजापति है और इसलिए कुम्भकार का एक दूसरा नाम प्रजापति भी है । इस कुम्भ में ही समस्त रस हैं इसलिए इसे पूर्णकुम्भ कहा जाता है । देश क्षर है, काल अक्षर । ये क्षर और अक्षर दोनों जिसमें स्थित हैं उसे ही यहाँ परमव्योम कहा गया है । काल जब केन्द्र में होता है तो प्रत्यक् कहलाता है । पिण्ड में स्थित होने पर यही काल पराक् कहलाता है । रस से भरे हुए देश रूपी पूर्णकुम्भ को माङ्गलिक मानने के कारण ही माङ्गलिक अवसरों पर कुम्भ रखा जाता है ।

चतुर्थ मन्त्र

स एव सं भुवनान्याभरत् स एव सं भुवनानि पर्यैत् ।

पिता सन्भवत् पुत्र एवां तस्माद्भै नान्यत् परमस्ति तेजः ॥

शब्दार्थ—काल ही भुवनों का भरण पोषण करता है । वह काल भुवनों को चारों ओर से व्याप्त किये हुए है । इस प्रकार वह इनका पिता भी है और पुत्र भी है । उससे बड़ा कोई दूसरा तेज नहीं है ।

काल ही दिक्-देश को जन्म देता है इसलिए उसे भुवनों का भरण करने वाला कहा गया है काल से परे कुछ भी नहीं इसलिए कहा गया है कि काल ने सबको घेर रखा है । सत्कार्यवाद के अनुसार कारण ही कार्य में परिवर्तित होता है । कारण को पिता, कार्य को पुत्र कहा जाता है । काल ही कारण है, काल ही कार्य है । इसलिए उसे ही पिता और उसे ही पुत्र कहा जाता है । काल के प्रभाव से ही पदार्थ तेजस्वी हैं । इसलिए यह कहा गया है कि काल से बड़ा कोई तेज नहीं है ।

पञ्चम मन्त्र

कालोमू दिवमजनयत् काल इमाः पृथिवीरुत् ।

काले ह भूत भव्यं चेषितं ह वि तिष्ठते ॥

शब्दार्थ—काल ने द्युलोक को उत्पन्न किया, काल ने ही इन पृथिवियों को उत्पन्न किया। काल में भूत, भविष्य और वर्तमान टिके हुए हैं।

सृष्टि के तीन पक्ष हैं—प्राण अधिदैवत है, प्राणी अध्यात्म है, भूत अधिभूत है।

पूर्व में चतुर्थ मन्त्र में काल भुवनों का भरण, पोषण करता है यह कहकर आधिभौतिक सर्ग का वर्णन कर दिया। अब इस पांचवें मन्त्र में तथा अगले छठे मन्त्र में अधिदैवत का वर्णन हो रहा है। अधिदैवत सृष्टि में तैतीस प्राण आते हैं - आठ वसु प्राण, ग्यारह रुद्र प्राण, बारह आदित्य प्राण तथा एक-एक वसु तथा रुद्र और आदित्य के बीच फा प्राण। ये तैतीस प्राण ही तैतीस देवता हैं। इसलिए इन्हें अधिदैवत सृष्टि कहते हैं। इस सृष्टि में न दिक् का बन्ध है न देश का। पाषाण आदि अधिभूत सृष्टि है जो सर्वथा देशबद्ध है। अध्यात्म सृष्टि पशु पक्षी और मनुष्यों की है। वह न अधिदैवत के समान सर्वथा दिक् देश काल से युक्त है, न अधिभूत के समान सर्वथा दिक् देश काल से बन्धी है।

छठा मन्त्र

कालो भूतिमसृजत काले तपति सूर्यः ।

काले ह विश्वा भूतानि काले चक्षुर्वि पश्यति ॥

विभूति दो प्रकार की है—भौतिक और दैवी। दैवी विभूति श्री है, भौतिक विभूति लक्ष्मी है। इनमें श्री शीर्षस्थानीय है इसलिए शतपथ ब्राह्मण में श्री का सम्बन्ध सिर से माना गया है—यत् श्रियं समुदोहत् तस्मात् शिरः। लक्ष्मी का सम्बन्ध पिण्ड से है। पिण्ड कालबद्ध है। लक्ष्मी जड़ है तथा क्षर है। श्री का सम्बन्ध पिण्ड के महिमामण्डल से है। श्री अक्षर है। वह पिण्ड से बाहर महिमामण्डल में है। इसलिए जैमिनीयोपनिषद् ब्राह्मण में उसे बहिर्देव कहा गया है—बहिर्देवो वै श्रीः। श्री का नाम ही भूति है क्योंकि वह भूत का महिमामण्डल है। भूतों में इस भूति का आविर्भाव हो जाना ही सम्भूति या सृष्टि है। इस भूति का तिरोभाव हो जाना ही प्रलय है। काल ही सृष्टि और प्रलय को करता है—‘कालः सृजति भूतानि कालः संहरते प्रजाः’।

इस मन्त्र में काल का सम्बन्ध सूर्य, भूत तथा चक्षु से जोड़ा गया है। सूर्य अधिदैव है, भूत आधिभौतिक है, चक्षु अध्यात्मिक है। यह प्रत्यक्ष है कि सूर्य की तेजस्विता सर्वाधिक है। इसलिए सूर्य को चक्षु कहा जाता है - तच्चक्षुर्देवहितं पुरस्तात्। चक्षु, अक्ष और नेत्र में चक्षु प्राणात्मक है। इसे ही प्रजा भी कहते हैं। अक्ष भूतमात्रा है। यह चक्षु की अपेक्षा स्थूल है। किन्तु सबसे अधिक स्थूल नेत्र है जो भूतात्मक है। इन तीन की अपेक्षा ही चक्षु को त्रिवृत कहा है - त्रिवृद्वै चक्षुः।

सातवाँ मन्त्र

काले मनः काले प्राणः काले नाम समाहितम् ।

कालेन सर्वा नन्दन्त्यागतेन प्रजा इमाः ॥

शब्दार्थ है—काल में मन, प्राण और नाम समाहित हैं। सब प्रजा वर्तमान काल में प्रसन्न रहती है।

चतुर्थ मन्त्र में आधिभौतिक, पञ्चम-षष्ठ मन्त्र में आधिदैविक विवर्त का वर्णन करने के बाद प्रस्तुत मन्त्र में अध्यात्म का उल्लेख है। मन ज्ञान को, प्राण क्रिया को और नाम अर्थ को बताता है। आदित्य प्राण के द्वारा काल मनोमय है, वायव्य प्राण के द्वारा प्राणमय तथा आग्नेय प्राण के द्वारा वाङ्मय है। मन, प्राण और नाम काल में समाहित हैं। अर्थात् काल ही मन, प्राण और नाम है। आधार और आधेय में कोई भेद नहीं है। काल में काल के द्वारा काल ही काल रूप में परिणत हो जाता है। काल में अर्थात् अक्षर में, काल के द्वारा अर्थात् विकार क्षर के द्वारा, काल अर्थात् महाभूत कालरूप में अर्थात् कार्य जगत् में परिणत हो रहे हैं—यह भाव है।

सूर्य केन्द्र में है। उसका अस्त हो जाना रात्रि है, उदित हो जाना दिन है। दिन ही वर्तमान है। रात्रि भूत-भविष्य है।

आठवां मन्त्र

काले तपः काले ज्येष्ठं काले ब्रह्म समाहितम् ।

कालो ह सर्वस्येश्वरो यः पितासीत् प्रजापतेः ॥

शब्दार्थ—काल में ही तप है। काल में ही ज्येष्ठ तथा काल में ही ब्रह्म प्रतिष्ठित है। काल ही सबका ईश्वर है। जो काल प्रजापति का भी पिता था। इस मन्त्र में बताए ज्येष्ठ और ब्रह्म काल में समाहित माने गये हैं। प्रजापति का ज्ञान-ज्योतिर्मय अव्यय मात्र तप है, कर्म ज्योतिर्मय अक्षर भाग ज्येष्ठ है तथा भूत-ज्योतिर्मय आत्मक्षर भाग ब्रह्म है, जिसके लिए गीता में “ब्रह्माक्षर समुद्भवम्” कहा गया है। इस मन्त्र में जिन्हें तप, ज्येष्ठ और ब्रह्म कहा गया है उन्हें ही सातवीं ऋचा में मन, प्राण और नाम कहा गया है। तपज्ञान ज्योति पुरुष को बताता है, ज्येष्ठ कर्मज्योति परा प्रकृति को और ब्रह्म भूतज्योति अपरा प्रकृति को। इनमें तप अधिष्ठान है, ज्येष्ठ निमित्त है और ब्रह्म उपादान है। तप का ज्ञान रूप “यस्य ज्ञानमयं तपः” इत्यादि वाक्यों से स्पष्ट है जबकि ज्येष्ठ की कर्मरूपता “प्राणो वै ज्येष्ठः” कहकर प्रकट की गयी है। ब्रह्म को अनेक स्थानों पर वाक् कहा गया है। जैसे “सा या सा वाक् ब्रह्मैव तत्” अथवा “वाग् वै ब्रह्म” ऋचा में काल को समस्त प्रपञ्च का ईश्वर बताया गया है। यही काल ज्ञान प्रधान मन में आनन्द और विज्ञान कला का सृजन करता है, क्रियाप्रधान प्राणों में भोक्ता, भोग्य अग्निसोम का सृजन करता है, और भूतप्रधान नाम में अन्न-अन्नाद का सृजन करता है। यही तप, ज्येष्ठ और ब्रह्म महाव्याहृति के भूर्भुवः स्वः है। तप स्वः है, प्राण भुवः और वाक् भूः।

गोपथब्राह्मण में ब्रह्म के तप का उल्लेख है। ब्रह्म के तप से सुवेद उत्पन्न हुआ-

ब्रह्म ह वा इदमग्र

आसीत्-स्वयम्भवेकमेव ।

तदैक्षत... हन्ताहं मदेव मन्मात्रं ।

द्वितीयं देवं निर्ममे इति ।

तदभ्यश्राम्यदभ्यपत्, समतपत् ।

तस्य श्रान्तस्य तप्तस्य ।

सन्तप्तस्य ललाटे स्नेहो

यदार्रमाजायत, तेनानन्दत् । तदब्रवीत्... सुवेदमविदामहमिति "इति, तस्मात् सुवेदोऽभवत् ।

व्यक्त काल का विस्तार

यह जो सुवेद है यही श्रुति का प्रसिद्ध आपः है जिसे श्रुति ने परमेष्ठी लोक कहा है इस आपः तत्त्व ने पुनः तप किया जिससे हिरण्यमयाण्ड उत्पन्न हुआ जिसके गर्भ से संवत्सर उत्पन्न हुआ अव्यक्त काल के व्यक्त होने का यही क्रम है ।

ताः (आपः) अकामयन्त - कथं नु प्रजायेमहीति ।

ता अश्राम्यन् तपोऽतप्यन्त । तासु तपस्यप्यमानासु हिरण्मयाण्डं सम्बभूव । अजातो ह तर्हि संवत्सरः आस ।

इसी सूर्य से समस्त विश्व उत्पन्न हुआ । सूर्य से भूपिण्ड और भूपिण्ड से चन्द्रमा । इनमें स्वयम्भू प्राण-प्रधान, परमेष्ठी आपः-प्रधान, सूर्य वाक्-प्रधान, भू अन्नाद और चन्द्रमा अन्न है । (स प्राणोऽभवत् (स्वयम्भूः) स आपोऽभवत् (परमेष्ठी) स वाग्भवत् (सूर्यः) अन्नाद एवान्यतरोऽभवत् (भूपिण्डः) अन्नमन्यतरं (चन्द्रमा) ता वा एताः पंचदेवता एतेन कामप्रेण यज्ञेन अयजन्त) इनमें स्वयम्भू और परमेष्ठी मनः प्रधान है, सूर्य प्राणप्रधान, भूपिण्ड और चन्द्रमा वाक्प्रधान । इस प्रकार अव्यक्त काल व्यक्त बनता है । जब मनु ने "कालं कालेन पीडयन्" कहा था तो उसका यही अर्थ था । काल इन्द्र के रूप में विश्वरूप हो जाता है इसलिए "इन्द्रो मायाभिः पुरुरूप ईयते" कहा जाता है । तप रूप में काल का नाम सर्वज्ञ ज्येष्ठ रूप में हिरण्यगर्भ और ब्रह्मरूप में विराट् है ।

नवम मन्त्र

तेनेषितं तेन जातं तदु तस्मिन् प्रतिष्ठितम् ।

कालो ह ब्रह्म भूत्वा बिभर्ति परमेष्ठिनम् ॥

शब्दार्थ है—उस काल से सब कुछ प्रेरित है उसी से सब उत्पन्न हुआ है उसी में सब प्रतिष्ठित है । काल ही ब्रह्म होकर परमेष्ठी को धारण करता है ।

नवम मन्त्र में समस्त विश्व की उत्पत्ति काल से बतायी गयी है । मनोमय ज्ञानरूप काम है, प्राणमय क्रियारूप तप है, वाङ्मय अर्थरूप श्रम है । कामना, तप और श्रम ही सृष्टि का मूल है । इसीलिए "अकामस्य क्रिया काचिद् दृश्यते नेह कर्हिचित्" कहा गया है । इस कामना से जो क्रिया

होती है, वही तप है जो कि प्राणमय है। यही प्राणमय क्रिया जब वाङ्मय कर्म का रूप लेती है तो श्रम कहलाती है। सृष्टि का यही क्रम है - सोऽकामयत,

स तपोऽतप्यत सोऽश्राम्यत् ।

महाकाल तो अनाद्यनन्त होने से केन्द्र-विहीन है। व्यक्तकाल का केन्द्र ही मन है। अतः मन ही सृष्टि का मूल है। कामस्तदग्रे समवर्तताधि मनसो रेतः प्रथमं यदासीत्। जो प्रकृति से परे है, वह मन-बुद्धि से परे है, अतः तर्क का विषय ही नहीं है - अचिन्त्याः खलु ये भावा न ताँस्तर्केण योजयेत् प्रकृतिभ्यः परं यच्च तदचिन्त्यस्य लक्षणम् ॥

इसलिए अव्यक्त काल के लिए "संविदन्ति न यं वेदाः विष्णुर्वेद न वा विधिः" कहा गया है। मन, प्राण और वाक् की तीन सृष्टियाँ हैं, इन्हें क्रमशः काल-सर्ग, दिक्-सर्ग, देश-सर्ग अथवा पुरुष सर्ग, प्रकृति-सर्ग, विकृति-सर्ग अथवा ब्रह्मसृष्टि, यज्ञसृष्टि, मैथुनीसृष्टि भी कहा जाता है। इनमें मानसी सृष्टि अमूर्त है, केवल प्राणसृष्टि और वाक् सृष्टि ही मूर्त है। यही ब्रह्म के दो रूप हैं-अमूर्त और मूर्त—द्वे वाव ब्रह्मणो रूपे मूर्तञ्च अमूर्तञ्च। अमूर्त का प्रतीक है स्वयम्भू और मूर्त का प्रतीक सूर्य है। परमेष्ठी काल ने दोनों को धारण किया है। "कालो ह ब्रह्म भूत्वा बिभर्ति परमेष्ठिनम्"

दसवां मन्त्र

कालः प्रजा असृजत कालो अग्रे प्रजापतिम् ।

स्वयम्भूः कश्यपः कालात्तपः कालादजायत ॥

शब्दार्थ है—काल ने प्रजा उत्पन्न की। काल ने सर्वप्रथम प्रजापति को व्यक्त किया। काल से स्वयम्भू और कश्यप उत्पन्न हुए।

इस दसवें मन्त्र में स्पष्टीकरण के रूप में ब्रह्म के लिए प्रजापति और परमेष्ठी के लिए प्रजा शब्द का प्रयोग करके वेद ने नवें मन्त्र की बात ही दुहरा दी है। प्रजापति आत्मा का और प्रजा शरीर का भी नाम है। मन्त्र के दूसरे चरण में काल से स्वयम्भू कश्यप और तप की उत्पत्ति मानी गयी है। स्वयम्भू प्रजापति ही है जिसकी महिमा अग्नि, इन्द्र, सोम और परमेष्ठी के रूप में अभिव्यक्त होती है जो क्रमशः पृथ्वी, सूर्य, चन्द्रमा और प्रजापति के अधिदेव हैं। यह कूर्म ही आदित्य है। "स यः कूर्मः" यह सूर्य ही यहाँ कश्यप शब्द से कहा गया है। यह कूर्म रसरूप है। "रसो वै कूर्मः" इस रस की चार अवस्थायें हैं - दधि, घृत, मधु और अमृत। दधि भूपिण्ड से सम्बद्ध है, घृत अन्तरिक्ष से और मधु आदित्य लोक से। चौथा अमृत परमेष्ठी लोक से जुड़ा है। इस प्रकार यह काल का व्यक्त रूप सूर्य प्रजापति अपने कूर्मावतार में चार रसों द्वारा चारों लोकों को समाहित किये हैं - रसो वै कूर्मः। दधि - हैवास्य लोकस्य रूपम्। घृतमन्तरिक्षस्य। मध्वमुच्यते।

चौथे रस का उल्लेख "अस्ति वै चतुर्थो देवलोक आपः" के रूप में है। इस प्रकार इस ऋचा में जिसे स्वयम्भू और प्रजापति कहा है वे अमूर्त के वाचक हैं और जिसे प्रजा और कश्यप कहा है वे मूर्त के वाचक हैं। प्रजा और कश्यप का सम्बन्ध "सर्वाः प्रजाः काश्यप्यः" जैसी उक्तियों में होता

है। जिस प्रकार आत्मा के तीन पर्व हैं - मन, प्राण, वाक्- उसी प्रकार शरीर के तीन पर्व हैं कारण, सूक्ष्म और स्थूल। ये तीनों क्रमशः सूर्य, चन्द्र और पृथ्वी से जुड़े हैं। इसलिये "यथा पिण्डे तथा ब्रह्माण्डे" की उक्ति प्रसिद्ध हो गयी। इस ऋचा में जिस तप का उल्लेख है, वह सूर्य का तप है जो प्रत्यक्षतः व्यक्तकाल को व्यवस्थित करता है।

उपसंहार

इस तरह अथर्ववेद के इस कालसूक्त के प्रथम मन्त्र में कालपुरुष का उल्लेख है। द्वितीय तथा तृतीय मन्त्र में संवत्सररूप काल का निरूपण है, चौथे मन्त्र में काल का आधिभौतिक रूप, पांचवें तथा छठे मन्त्र में आधिदैविक रूप और सातवें मन्त्र में आध्यात्मिक रूप का वर्णन है; शेष मन्त्रों में काल के समष्टयात्मक रूप का निरूपण है। पण्डित मधुसूदन ओझा द्वारा उद्घाटित ब्राह्मण ग्रन्थों में दी गई वैदिक परिभाषा को आधार बनाकर पं. मोतीलाल शास्त्री ने इस कालसूक्त की जो मन्त्रशः व्याख्या 'दिग्देशकाल-स्वरूप-मीमांसा' नामक ग्रन्थ में की है उसी का सङ्क्षिप्त विवरण यहाँ दिया गया है।

ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः

प्रश्न

१. काल का स्थान केन्द्रीय किस प्रकार है ?
२. काल के सम्बन्ध में सामान्य मनुष्य और बुद्धिमान् मनुष्य में क्या अन्तर है ?
३. संवत्सर का क्या अर्थ है ?
४. कुम्भ क्या है ?
५. श्री और लक्ष्मी में क्या अन्तर है ?
६. काल का क्या कार्य है ?
७. ब्रह्म का तप क्या है ?

स्मरणीय उद्धरण

कालसूक्त में से अच्छे लगने वाले कोई ५ मन्त्र ।

विषयानुक्रमणी

अग्नि

जठराग्नि, २; पृथ्वी का देवता, ३५; के तीन रूप, ३५; द्विविध—चिति, चितेनिधेय, ३५; सर्वव्यापक, ४९; अपरनाम—जातवेदा, ४९; अग्निप्राण का सूक्ष्म रूप—वायु, ५०; का नाम अन्नाद है, ५८; का कार्य है—विकास, १०४ ।

अन्न

के चार अंश; ३; की अन्तिम परिणति—ओज, २ ।

आत्मा

के तीन घटक—वाक्, प्राण, मन, ६४; अमृत है, १०४ ।

ईश्वर

पूर्ण है, ८१; सर्वव्यापक, ८१; का वचन श्रुति, ८५; की शक्ति—माया, ८६ ।

ऋत

केन्द्ररहित, १०३; असीम परात्पर, १०३; से ही सत्य पुरुष उत्पन्न होता है, १०४ ।

कर्म

बन्धन करने वाला, ५७; त्रिविध—अधिकृत, धार्मिक, आत्मीय, ८४; त्रिविध—कर्म, विकर्म, अकर्म, ९७; का अर्थ—प्राणबल, ९७ ।

काल

अनादि तथा अनन्त, २१; अनाद्यनन्त चेतना का हेतु, २१; अनन्त, सर्वेश्वर, ६९; सर्वप्रमुख, ७०; संवत्सरविद्या द्वारा कालजय, ७०; काल चेतना के सर्वाधिक निकट, १०८; समस्त पदार्थों को परिवर्तित करने वाला, १०९; अत्यन्त शक्तिशाली, १०९; की गति कुटिल कही जा सकती है, १०९; समस्त भुवनों को व्याप्त करने वाला, ११०; सर्वाधिक तेजस्वी, ११०; सृष्टि तथा प्रलय का कर्ता, १११; में ब्रह्म प्रतिष्ठित, ११२; सबका ईश्वर, ११२ ।

गति

परिधि से केन्द्र की ओर—आकर्षण ५५; केन्द्र से परिधि की ओर—उत्क्षेपण, ५५; का नाम ही ऋषि, ६४; द्विविध—अन्तर्मुख, बहिर्मुख, ६४ ।

धर्म

अर्थ तथा काम का मूल, २६; वानप्रस्थ में साध्य, २७ ।

प्राण

अन्न की अपेक्षा अधिक महत्वपूर्ण, ८; ऊर्जा ही प्राण, ८; समस्त जगत् में व्याप्त, ८; समस्त इन्द्रियों की अपेक्षा अधिक महत्वपूर्ण, ९; सर्वव्यापक तत्व, ३४; का वायु से सम्बन्ध, ४८; का काम गति प्रदान करना, ५४; ऋषि और देव, ७६ ।

पुरुष

त्रिविध—अव्यय, अक्षर, क्षर, ५३; षोडशकलयुक्त, ५६; से ही सृष्टि ७३; सृष्टि में सर्वव्यापक, ७४; जड़ चेतन—पुरुष के ही रूप हैं—७५; में गतियों का सन्तुलन, ७७; से समस्त लोकों की उत्पत्ति, ७८; अव्यय पुरुष के दो विवर्त—ब्रह्म और कर्म, ९० ।

पूँजीवाद

के गुण-दोष, पृ. २६ ।

ब्रह्म

विश्वरूप कार्य का कारण, ६२; का वाचक ओम्, ८०; ही कर्म, ९०; के दो रूप मूर्त और अमूर्त, ११४ ।

मन

अन्न का सूक्ष्म अंश, २; सर्वव्यापक, ८; सृष्टि का कारण, १२; चतुर्विध—श्वोवसीयस, सत्त्व, इन्द्रिय, सर्वेन्द्रिय, १३; सृष्टिगत पदार्थों का व्यवस्थापक, १३; श्वोवसीयसमन सृष्टि का कारण, १३; का कार्य इच्छा करना, ५४; पञ्चकलाओं से युक्त, ५४; की शक्ति से ही प्राण सक्रिय, ५८; के वश में प्राण, ६०; की शक्ति से सृष्टि, ६०; श्वोवसीयस मन की इच्छा—काम, ६३; का धर्म—कामना, ६३; अव्यय पुरुष का प्रतीक, ७८; का कार्य भोग करना, ८४; काल को जानने वाला, १०८; बुद्धि से परे, ११४ ।

मनुष्य

सर्वश्रेष्ठ है, १८; मनु से सम्बन्धित, १८; देवों से भी श्रेष्ठ, १८ ।

यज्ञ

अग्नि में सोमाहुति रूप है, १०; का अर्थ आदान-प्रदान, ३६; त्याग रूप है, ४२; का नाम—विष्णु है, ४५; से सृष्टि होना, ५५; त्रिविध सृष्टि—यज्ञ से, ५५; श्रेष्ठतम कर्म, ५७; एक विज्ञान, ५८; से समस्त कामनायें पूर्ण, ६०; सङ्कल्प से ही सम्भव, ६१; सर्जन का प्रतीक, ७६; से ही जीवन प्रारम्भ, ७६; से ऋक्, साम, छन्द तथा यजुः उत्पन्न हुए, ७७ ।

लक्ष्मी

अर्थात्मिका, ४४; की उपासना का पर्व—दीपावली, ४५; का निवास धीरपुरुषों की वाणी में, ४६; कमल पर आसीन, ४६ ।

लोक

पाँच हैं—पृथिवी, अन्तरिक्ष, द्युलोक, परमेष्ठी, स्वयम्भू, १० ।

वेद

कठिन नहीं, १; अपरनाम ब्रह्म, ४९; वेदों का सार—ओम् ८०; ब्रह्म के तप से उत्पन्न, ११२ ।

वैदिक व्यवस्था

तृतीय विकल्प के रूप में, २६ ।

शरीर

में अन्न से वीर्य बनने की प्रक्रिया, १; पूर्ण से प्रसूत होने के कारण पूर्ण, ८१; का सम्बन्ध अर्थ से, १०९; के तीन प्रकार—कारण, सूक्ष्म और स्थूल, ११५ ।

संस्कृति

के सत्यं शिवं सुन्दरम् ये तीन अङ्ग, २२; का आधार आत्मा, २३; विश्ववारा—संस्कृति, २३; योग का विषय, २४; का वैशिष्ट्य—अनेकता में एकता, ५० ।

सभ्यता

प्रकृति से सम्बद्ध, २१; प्रकृति का अतिक्रमण, २१; संस्कृति के बिना अधूरी, ३२; के मूर्त पक्ष का प्रतिनिधि—ऋग्वेद, ३१ ।

साम्यवाद

के गुण-दोष, २६;

सृष्टि

एक कार्य, ५०; के हेतु तीन तत्त्वों की आवश्यकता—आलम्बन, सामग्री, कर्ता, ५०; का मूल ब्रह्म, ५३; का प्रारम्भिक बिन्दु—इच्छा, ५४; त्रिगुण का विस्तार, ५६; का मूल—अग्निसोम युगल, ५८; का कारण—मन, प्राण, वाक्, ६४; के मूल में काल, दिक्, देश, ७०; का मूल—कामना, तप और श्रम, ११३ ।